

कैसे बचेगी धरती कैसे बचेगी दुनिया?

(यह लेख 20 अक्टूबर 2009 को लिखा गया था और 'युवा संवाद' के नवंबर 2009 अंक में प्रकाशित हुआ था। भारत में गंगा-प्रदूषण और दुनिया में पर्यावरण-संकट पर चर्चा/आंदोलन का नया ज्वार देखा जा सकता है। यह भी देखा जा सकता है कि बाजार और हथियार के दो पहियों पर चलने वाली मौजूदा व्यवस्था में शांति पनाह मांगती धूमती है। यह लेख इन्हीं विषयों/मुद्दों के इर्द-गिर्द लिखा गया था। एक दशक बाद इन विषयों/मुद्दों को समझने में यह लेख सहायक हो सकता है। लिहाजा, नए पाठकों के पढ़ने के लिए लेख फिर से जारी किया गया है।)

प्रेम सिंह

एक बार फिर गंगा

'गंगा मेरे लिए भारत के स्मरणीय अतीत का प्रतीक है। वह अतीत जो वर्तमान तक बहता चला आया है और भविष्य के सागर की ओर जिसका बहना जारी है।'- जवाहरलाल नेहरू

गंगा नदी की सफाई पर पिछले दो दशकों में 960 करोड़ रुपये खर्च किए गए हैं। यह सरकारी आंकड़ा है। सरकारी से अलग भी कई संगठन और पर्यावरण संरक्षण के लिए प्रतिबद्ध लोग गंगा की सफाई के लिए प्रयास करते रहे हैं। भारत नदियों का धनी देश है। उन नदियों में यहां की सर्वांगीन आबादी के लिए गंगा का सबसे ज्यादा धार्मिक-आध्यात्मिक महत्व है। लोक और शास्त्र दोनों में 'पतित पावनी' गंगा की अनंत महिमा का गान है। स्वाभाविक है कि धार्मिक संगठन और लोग भी गंगा की सफाई के लिए चिंता और प्रयास करते हैं। गंगा नदी के प्रदूषण की समस्या पर कई अध्ययन हुए हैं। इन अध्ययनों में गंगा के बुरी तरह प्रदूषित होने की समस्या के निदान के साथ कुछ समाधान भी सुझाए जाते रहे हैं। लेकिन इतने खर्च, प्रयासों और सुझावों के बावजूद गंगा और ज्यादा प्रदूषित और विषाक्त होती गई है। यह सच्चाई सामने दिखाई भी देती है और सरकारी व गैर-सरकारी सूत्रों से भी पता चलती है। देश की बाकी नदियों का हाल भी कमोबेस गंगा जैसा ही है।

भारत सरकार ने पिछले महीने एक बार फिर गंगा की सफाई के लिए एक महत्वाकांक्षी परियोजना बनाए जाने की घोषणा की है। परियोजना 'राष्ट्रीय गंगा नदी धाटी प्राधिकरण' (नेशनल गंगा रिवर बेसिन अथॉरिटी) के तहत अंजाम दी जाएगी, जिसका गठन प्रधानमंत्री की

अध्यक्षता में इस साल फरवरी में हुआ बताया गया है। परियोजना पर अगले 10 सालों में 'मिशन क्लीन गंगा' के लिए 15,000 करोड़ रुपये खर्च होंगे। केंद्र और वे राज्य सरकारें मिल कर यह खर्च उठाएंगी जहां से गंगा बहती है - केंद्र 70 प्रतिशत और राज्य सरकारें 30 प्रतिशत। भारत में कोई छोटा या बड़ा काम हो और विश्व बैंक से कर्ज न लिया जाए, वैश्वीकरण के दौर में ऐसा संभव नहीं होता है। लिहाजा, विश्व बैंक से एक अरब डॉलर यानी 41,474 करोड़ रुपये का कर्ज मांगा गया, जिसके लिए विश्व बैंक ने सैद्धांतिक सहमति दे दी है। उसमें से 30 लाख डॉलर की रकम परियोजना की तैयारी के लिए स्वीकृत भी हो गई है। कर्ज संबंधी बाकी का काम दिसंबर में हो जाएगा, जब विश्व बैंक के अध्यक्ष रॉबर्ट जौलिक भारत में होंगे।

यह सब सूचना पर्यावरण और वन मंत्री जयराम रमेश ने 'राष्ट्रीय गंगा नदी घाटी प्राधिकरण' की 5 अक्टूबर 2009 को प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में हुई बैठक के बाद पत्रकारों को दी। जाहिर है, प्रधानमंत्री द्वारा 'राष्ट्रीय गंगा नदी घाटी प्राधिकरण' के गठन और उसके तहत गंगा की सफाई के लिए चलाई जाने वाली परियोजना की घोषणा के पहले ही विश्व बैंक से सौदा हो चुका था। यानी यह परियोजना, जैसा कि जताया गया है, भारत के प्रधानमंत्री कार्यालय की नहीं है, विश्व बैंक की है। लेकिन हमारे प्रबुद्ध पत्रकारों में से किसी ने प्रधानमंत्री, मंत्री अथवा बैठक में उपस्थित मुख्यमंत्रियों से यह सवाल नहीं पूछा। इससे एक बार फिर पता चलता है, सोनिया गांधी-मनमोहन सिंह मंडली के नेतृत्व में भारत का प्रधानमंत्री कार्यालय विश्व बैंक जैसी वैश्विक संस्थाओं का एक्सटेंशन कार्यालय बना हुआ है। वह ऐसा अङ्ग है जहां भारत के कुछ अमीरों की समृद्धि बढ़ाते हुए एक तरफ देश के संसाधनों को लूटा जा रहा है, और दूसरी तरफ देश की जनता पर कर्ज दर कर्ज पोता जा रहा है। भारत के हर क्षेत्र के ज्यादातर हैसियतमंदों को यह स्थिति स्वीकार्य होती जा रही है।

बताया गया है कि इस बार प्रधानमंत्री गंगा की सफाई को लेकर काफी गंभीर हैं। वे बैठकों के लिए ज्यादा समय नहीं दे पाएंगे, इसलिए 'राष्ट्रीय गंगा नदी घाटी प्राधिकरण' के साथ केंद्रीय वित्तमंत्री की अध्यक्षता में अलग से एक स्टैंडिंग कमेटी का गठन किया जाएगा जो जल्दी-जल्दी 'मिशन' के कार्यान्वयन की समीक्षा करेगी। एक स्टीयरिंग कमेटी का भी गठन किया जाएगा जो 'मिशन' जल्दी पूरा करने के लिए जरूरी विभिन्न परियोजनाओं को जल्दमजल्द स्वीकृति दिलाने का काम करेगी। आजकल देश में जनांदोलन शब्द काफी चल निकला है। उसकी धमक सरकार तक भी पहुंचती है। समस्त सरकारी इंतजाम का बयान करने के बाद मंत्री महोदय ने बताया है कि सरकार का इरादा 'मिशन क्लीन गंगा' को 'पीपल्स मिशन' यानी जन-अभियान बनाने का है। इसके लिए प्राधिकरण में आठ गैर-सरकारी लोग रखे गए हैं। ये जन-अभियान की सामाजिक ऑडिटिंग सहित मूल्यांकन करने और नजर रखने का दायित्व निभाएंगे। उपर्युक्त बैठक की 'दि

हिंदू में प्रकाशित खबर में प्राधिकरण में नामित 8 गैर-सरकारी लोगों में से 7 उपस्थित बताए गए हैं। हालांकि उनके नामों और बैठक में व्यक्त विचारों का उल्लेख खबर में नहीं है।

पर्यावरण मंत्री का कहना है कि इस बार गंगा की सफाई का काम पहले से ज्यादा व्यवस्थित और गंभीर रूप में किया जाएगा। वे पहले से अलग नए तरीके अपनाने की भी बात करते हैं। हालांकि फिलहाल करने के नाम पर बताया गया है कि गंगा किनारे के शहरों की गंदगी और कचरा, जो अभी बड़ी मात्र में अशोधित रूप में गंगा में गिरता है, उसे शोधित करके गिरने दिया जाएगा। इसके लिए चालू मल-परिशोधन संयंत्रों को और तेज किया जाएगा और गहन प्रदूषण के स्थलों पर नए संयंत्र लगाए जाएंगे। कहने वाले कहने के लिए कह सकते हैं कि शहरों की गंदगी और कारखानों का कचरा अगले दस सालों में परिशोधित होकर गंगा में गिरने लगेगा तो क्या उससे गंगा (या कोई दूसरी नदी) साफ मान ली जाएगी?

गंगाजल की पवित्रता में युगों से आस्था रखती चली आ रही भारत की सर्वर्ण हिंदू आबादी को उस रूप में कम से कम गंगा को साफ मानने में अभी काफी समय लगेगा। हालांकि इस आबादी ने सदियों से अपने पाप धोते वक्त गंगा के गंदा होने की कभी चिंता नहीं की। शायद वह मानती रही है कि गंगा में धुले पाप उसके पवित्र जल में मिल कर पवित्र हो जाते हैं। चिंता उसे गंदगी और कचरे की भी नहीं है। शायद वह भी सब गंगा में गिर कर पवित्र हो जाता है! तभी, न गंगा मैया के प्रदूषण में कमी होती है, न जैकारों में। इस पवित्रतावादी तर्क को हम आगे नहीं बढ़ाना चाहते। वैसे भी लोक में कहावत है, 'ज्यादा छना पीने की बात करने वाला अंत में गंदा पीता है।' पवित्रता और विशुद्धता के दावे हमेशा से होते हैं और धरे रह जाते हैं। गंगा को पवित्र मानने वाली हिंदू आबादी का हाल सामने है। वह अपनी समस्त धार्मिक विभूतियों और आश्रमों समेत अभी भी गंगा की पवित्रता के नशे में जीती है और गंदा पानी पीती है!

गंगा की सफाई के नए अभियान पर हमारा अलग सवाल है। लेकिन पहले एक परिघटना की और ध्यान दिलाना चाहते हैं जो नवउदारवादी दौर में उत्तरोत्तर प्रबल होती जा रही है। आजकल पहले की सभी संस्थाओं और नीतियों को निकम्मा और भ्रष्ट बताया जा रहा है और नई संस्थाएं और नीतियां, जाहिर हैं नवउदारवादी अर्जेंडे के मुताबिक, बनाने की घोषणाएं की जा रही हैं। इसके लिए हर क्षेत्र में बड़े पैमाने पर काम हो रहा है। ज्यादातर वही लोग यह काम कर रहे हैं जो पहले चली आ रही संस्थाओं के भी कर्ता-धर्ता रहे हैं। नौकरशाही तो वही रहती ही है, बुद्धिजीवी भी वही हैं, नेता तो हैं ही। कोई ठहर कर यह नहीं पूछता या विचार करता कि उन संस्थाओं और नीतियों के निकम्मा और भ्रष्ट होने के लिए जो जिम्मेदार हैं, उन्हें पहले कटघरे में लाया जाए। ताकि संस्थाएं आगे निकम्मेपन और भ्रष्टाचार का शिकार न बनें, इसके लिए कुछ सबक हासिल

हो सकें। लेकिन नहीं। विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन के आदेश पर नित नई संस्थाओं, नीतियों, परियोजनाओं और कार्यक्रमों की घोषणा हो रही है। कल तक 'निकम्मी और भ्रष्ट' संस्थाओं को चलाने वाले बुद्धिजीवी नई रपटें लेकर मंत्रियों और सचिवों के दरबार में हाजिर हो रहे हैं। नए कार्यभार सम्हाल रहे हैं। बल्कि वैसा करने के लिए हमेशा की तरह तरह-तरह के जोड़-तोड़ कर रहे हैं।

दरअसल, भारत में नवउदारवाद की सांस इसी पर टिकी है कि कुछ नया होते दिखना चाहिए। इससे गरीबी और जहालत के नर्क में रहने वाली विशाल आबादी में यह भ्रम बना रहता है कि उनके लिए कुछ हो रहा है। और नवउदारवाद के फायदेमंद चांदी काटने में लगे रहते हैं। हमने यहां यह चर्चा इसलिए चलाई है कि यह जो गंगा साफ करने का अचानक नया ज्वार पैदा हुआ है, और उन्हीं में हुआ है जो पिछले 20-25 सालों से 'केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड', 'केंद्रीय जल आयोग', 'राष्ट्रीय नदी संरक्षण प्राधिकरण' (1995) और 'गंगा एक्शन प्लान' (1985) जैसी परियोजनाएं और संस्थाएं और पर्यावरण मंत्रालय चलाते रहे हैं, उनसे यह पूछा जाना चाहिए कि पहले जो काम संपन्न नहीं हुआ, बल्कि बिगड़ा, उसके लिए कौन जिम्मेदार हैं? रुड़की आईआईटी के उन इंजीनियरों से भी जवाब तलब होना चाहिए जिन्होंने कहा - गंगा और अन्य नदियों में पानी का बहाव बरकरार रहने की कोई जरूरत नहीं है, सारा पानी सिंचाई और पेयजल योजनाओं के लिए निकाल लेना चाहिए, समुद्र में एक बूँद पानी नहीं जाना चाहिए। नदियों में पानी बहते रहना चाहिए, इसके लिए 90 के दशक में सुप्रीम कोर्ट को आदेश जारी करना पड़ा। जनता की गाढ़ी कमाई का धन खाने और बरबाद करने की अगर उन्हें सजा नहीं दी जाती है, तो कम से कम नए काम की जिम्मेदारी नहीं दी जानी चाहिए। बुद्धिजीवियों को जनता के साथ किए जाने वाले छल पर मजबूती से सवाल उठाने चाहिए। 'नए' भारत के निर्माण के लिए यह भी एक जरूरी कर्तव्य है। जनांदोलनकारियों को तो ऐसी समितियों से सोची-समझी दूरी बना कर रखनी ही चाहिए। लेकिन ऐसा हो नहीं पा रहा है। तभी नवउदारवादी अजेंडा इतनी बरबादी करने के बावजूद इतनी आसानी से हर क्षेत्र पर अपनी गिरफ्त बनाता जा रहा है।

अब हम अपने सवाल पर आते हैं। प्रधानमंत्री का ऐलान है कि जल्दी से जल्दी ज्यादा से ज्यादा आबादी को शहरों में ले आना है। अगर हमें ठीक से याद है तो उनका लक्ष्य 2020 तक, जो उनकी मंडली के मुताबिक भारत के महाशक्ति बनने का वर्ष भी है, 40 प्रतिशत आबादी शहरों में लाई जाएगी। उसके बाद 60 प्रतिशत को शहरों में लाने का काम जारी रहेगा। कहने की जरूरत नहीं, देश की सारी ग्रामीण और कस्बाई आबादी शहरों में लाकर नहीं बसाई जा सकती। अभी ही यह हालत है कि भारत का एक भी बड़ा शहर ऐसा नहीं है जिसमें कुल आबादी के एक-चौथाई हिस्से के लिए नागरिक और प्रशासनिक सुविधाएं उपलब्ध हों। इसके बावजूद मौजूदा

शहरों पर आबादी का बोझ बढ़ता जा रहा है। तो फिर तेजी से अनेक नए शहर बनाने होंगे। हालांकि अभी तक मौजूदा छोटे-बड़े शहरों में सीवर की व्यवस्था पूरी नहीं है, यह मान कर चलना होगा कि नए शहरों में लोगों को बसाने के लिए भवन और सीवर की व्यवस्था करनी होगी। शहर के लोग खुले में न रह सकते हैं, न जंगल-जोहड़ जा सकते हैं। भवन बनाने के लिए रेत नदियों से निकालना होगा जो पहले ही अंधाधुंध रेत-खनन (सैंड माइनिंग) से खोखली हो चुकी हैं। गंगा के प्रदूषण का एक प्रमुख कारण 79 से 99 प्रतिशत तक किया जा चुका रेत-खनन है। शहरी लोग खेती नहीं करते, लिहाजा शहरी आबादी की नौकरी के लिए हर शहर में कोई न कोई उद्योग लगाने होंगे। जाहिर है, नए शहरों की नगरपालिकाओं की गंदगी और उद्योगों का कचरा नदियों में जाएगा।

गंगा 13452 फुट की उंचाई पर गंगोत्री ग्लेसियर से निकल कर 2525 किलोमीटर का फासला तय करती हुई बंगाल की खाड़ी में जा कर मिलती है। वह पांच राज्यों से होकर गुजरती है जिनमें उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल जैसे सघन आबादी वाले राज्य भी हैं। उसके किनारों पर छोटी-बड़ी आबादी वाले 114 शहर बसे हैं। उसकी घाटी में गंगा के पानी और धरती को क्रोमियम कचरे से विषाक्त बनाने वाले कानपुर के कुख्यात चमड़ा उद्योग सहित 132 बड़ी औद्योगिक ईकाइयां हैं। 'केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड' की रपट के अनुसार शहरों की नगरपालिकाओं की 1.2 बिलियन सीवेज गंदगी और 2.1 बिलियन लीटर औद्योगिक कचरा प्रतिदिन गंगा में गिरता है। प्रधानमंत्री, अथवा जिस आधुनिक औद्योगिक पूंजीवादी-उपभोक्तावादी सभ्यता के वे पुरस्कर्ता हैं, की इच्छित शहरीकरण की प्रक्रिया में कुछ नए शहर गंगा के किनारे भी बनेंगे। बाकी नदियों और पूरे देश की बात जाने दीजिए, गंगा किनारे के शहरों की गंदगी और औद्योगिक कचरा कहां जाएगा? जाहिर है, गंगा में। फिर और परियोजनाएं बनेंगी, विश्व बैंक से और कर्ज आएगा, और हजम होगा। इस पूरी प्रक्रिया में देश की ज्यादातर आबादी गंदगी और कचरे का ढेर बनी रहेगी। साथ में गंगा भी।

हम गंगा की सफाई के अभियान में हिस्सेदारी करने वाले संगठनों और लोगों का सम्मान करते हैं। हम उन विद्वानों और वैज्ञानिकों का भी सम्मान करते हैं जो गंगा व अन्य नदियों समेत पर्यावरण-प्रदूषण के दरपेश संकट की वास्तविकता समझा कर सामने रखते हैं और आगाह करते हैं। हमारा इतना कहना है कि वे अगर इस विकास के साथ हैं तो उनके प्रयास कभी सार्थक नहीं होने हैं। पर्यावरण-प्रदूषण के अद्ययन और उसके प्रति जागरूकता फैलाने के प्रयासों का औचित्य तभी बनता है जब पूंजीवादी-उपभोक्तावादी विकास की धुरी को वैकल्पिक विकास के दर्शन की तरफ अग्रसर करने के प्रयास किए जाएं। वरना यह सारा उद्यम एक छोटी आबादी के ऐश्वर्यपूर्ण किंतु खोखले जीवनस्तर को बनाए और बढ़ाए रखने के लिए हो जाता है। यह नहीं भूलना चाहिए

कि पर्यावरण का संकट दुनिया के गरीबों की जान का संकट बना हुआ है। इस विकास के मॉडल के तहत उसके चलाने वालों के साथ उनकी संस्थाओं में बैठ कर समाधान निकालने में हिस्सेदारी करने वाले पर्यावरणविद और वैज्ञानिक गरीबों के मददगार नहीं होते।

अब शुरू में दिए गए नेहरू जी के उद्धरण पर आते हैं। भारत में ज्यादातर नदियां तीर्थस्थल भी हैं। उनके किनारे पूरे साल छोटे-बड़े 'नहान' (स्नान) व अन्य पर्व चलते रहते हैं। उनमें महीनों तक विशाल संख्या में लोगों का जुटान होता है। इस तरह के नदियों वाले देश के विकास का मॉडल तय करते वक्त नदियों की सफाई के काम को विशेष महत्व दिया जाना चाहिए था। लेकिन नेहरू जी खामखयाली में ज्यादा रहते थे। गोया औद्योगिकरण-शहरीकरण और प्राकृतिक शुचिता और सौंदर्य साथ-साथ चलते रहेंगे! उसी समय डॉ. लोहिया ने 'नदियां साफ करो' का आह्वान किया था। नेहरूवादियों ने पूरी ताकत से उनकी हर बात का विरोध किया। आज भी करते हैं। 'गंगा एकशन प्लान' के निदेशक रहे के. सी. शिवरामकृष्णन का कहना है कि 70 के दशक के अंत तक गंगा सहित भारत की लगभग सभी नदियां गंदा नाला बन चुकी थीं। डॉ. लोहिया के आह्वान पर ध्यान दिया जाता तो आज समस्या उतनी विकराल नहीं होती।

यह डॉ. लोहिया का जन्मशताब्दी वर्ष है। सरकार को उससे कोई लेना-देना नहीं है। अगर जरामरा भी होता तो, जैसा कि सरकारें करती हैं, इस परियोजना को नदियों के प्रदूषण के प्रति जनचेतना फैलाने वाले डॉ. लोहिया के नाम पर कर सकती थी। डॉ. लोहिया का तमगा पहनने वालों का हाल किसी से छिपा नहीं है। अमेरिका में जिसे 'पोर्न प्रेजीडेंट' का नाम अता किया गया, उस बिल किलंटन के साथ लखनऊ में नाच-रंग जमाने वाले और परमाणु करार को संसद में पारित कराने के लिए अमेरिका और मनमोहन सिंह सरकार की खुली दलाली करने वाले 'समाजवादी' उनके जन्मशताब्दी वर्ष का भी समारोह कर रहे हैं। हमने जन्मशताब्दी वर्ष की शुरुआत के पहले 'समय संवाद' में गांधीवादी एवं समाजवादी साथियों से लोहिया जन्मशताब्दी वर्ष के कर्तव्य के रूप में निवेदन किया था कि कांग्रेस और भाजपा की विचारधारा और राजनीति में हजम हो चुके समाजवादियों को छोड़ कर नई शुरुआत करें। लेकिन साथियों को हमारी बात उचित नहीं लगी। हम भारत में गंगा समेत सभी नदियों की सफाई और स्वच्छता की सच्ची इच्छा रखने वाले लोगों और संगठनों से आशा करते हैं कि वे अपना उद्यम गांधी और लोहिया के चितंन से जोड़ेंगे। ताकि प्रकृति और अनेक जीवधारियों सहित बहुलांश मानव आबादी का विनाश करने वाले इस विकास का विकल्प तैयार हो सके।

जलवायु-परिवर्तन का संकट

विशेषकर पिछले दो दशकों से दुनिया के स्तर पर जलवायु परिवर्तन (क्लाइमेट चेंज) नेताओं, नौकरशाहों, वैज्ञानिकों, पर्यावरणविदों और विद्वानों के बीच चिंता और बहस का एक बड़ा मुद्दा बना हुआ है। ऐसे बहुत-से अध्ययन हुए हैं और आंकड़े सामने आए हैं जिनसे पता चलता है कि आधुनिक औद्योगिक विकास की वजह से जलवायु में खतरनाक हद तक परिवर्तन आ गया है। धरती का तापमान बढ़ता जा रहा है। समुद्र तल उंचा हो रहा है। ओजोन परत में छेद हो चुका है। ग्लेसियर तेजी से पिघल रहे हैं। जैव विविधता नष्ट हो रही है। अंधाधुंध दोहन और उपभोग से धरती के संसाधनों की सीमा अत्यंत निकट आ पहुंची है। अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकंप, भूस्खलन, सुनामी जैसी आपदाएं जलवायु परिवर्तन का नतीजा बताई जाती हैं। जल, हवा मिट्टी, खाद्य पदार्थ कहीं कम कहीं ज्यादा मात्र में प्रदूषित और विषाक्त हो चुके हैं।

ऐसे में जलवायु परिवर्तन पर चिंता और बहस होना स्वाभाविक है। संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में और आर्थिक अथवा सामरिक हितों के आधार पर बने देशों के समूहों के बीच जलवायु परिवर्तन की समस्या पर और उससे निपटने के उपायों पर गंभीर विचार-विमर्श होता है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1992 में ब्राजील की राजधानी रियो डे जनेरो में बड़ी धूम के साथ पृथ्वी सम्मेलन आयोजित किया था। उसमें संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देश शामिल हुए थे। उसमें जलवायु परिवर्तन के प्रमुख कारण ग्रीन हाउस गैसों (जीएचजी) का उत्सर्जन कम करने के लिए 'यूनाइटेड नेशंस फ्रेमवर्क कनवेंशन ऑन क्लाइमेट चेंज' (यूएनएफसीसीसी) को स्वीकृति दी गई थी। हालांकि उसकी कोई वैधानिक बाध्यता नहीं थी। पृथ्वी सम्मेलन की अगली कड़ी के रूप में 1997 में जापान के क्योटो शहर में संयुक्त राष्ट्र संघ के ही तत्वावधान में जलवायु परिवर्तन सम्मेलन हुआ और क्योटो संधि (क्योटो प्रोटोकोल) अस्तित्व में आई। यह संधि यूएनएफसीसीसी का संशोधित रूप है। इसके तहत विकसित औद्योगिक देश 1990 को आधार बना कर 2012 तक जीएचजी में 5.2 प्रतिशत कमी लाने के लिए तैयार हुए। विकासशील देश यह मनवाने में कामयाब रहे कि उत्सर्जन की मात्रा के माप का आधार प्रति व्यक्ति रखा जाए, न कि एक देश में उत्सर्जन की समग्र मात्रा। उदाहरण के लिए चीन, जो उस समय अमेरिका के बाद दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा ग्रीन हाउस गैस छोड़ने वाला देश था और अब पहला बन चुका है, अपनी आबादी के आधार पर उत्सर्जन कम करने की शर्त से बाहर है। भारत को भी यह छूट मिली है। आस्ट्रेलिया और आइसलैंड जैसे देशों को उत्सर्जन बढ़ाने की छूट भी दी गई। रूस में यथास्थिति रखना तय हुआ।

2005 में रूस के राष्ट्रपति द्वारा दी गई सहमति के बाद प्रभावी हुई इस संधि का वास्तविक प्रतिबद्धता का समय 2008 तक शुरू नहीं हो पाया, जब उसके लक्ष्य-वर्ष - 2012 - में केवल 4 साल बचे रह गए। 2009 तक 183 देश संधि पर अपनी सहमति दे चुके हैं। सहमति बनाने के

लिए 2007 में इंडोनेशिया के द्वीप बाली में और 2008 में पोलैंड के शहर पोजनान में संयुक्त राष्ट्र संघ के दो और सम्मेलन हुए। अन्य कई मंचों से भी जलवायु परिवर्तन और उससे निपटने के लिए बनी क्योटो संधि पर चर्चा होती रही है। अमेरिका ने संधि पर दस्तखत तो किए लेकिन आज तक उस पर अपनी सहमति नहीं दी है। हालांकि वह प्रति व्यक्ति के आधार पर सबसे ज्यादा ग्रीन हाउस गैस छोड़ने वाला देश है। प्रोटोकोल के समय अमेरिका में बिल किलंटन और अल गोर राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति थे। लेकिन वे सीनेट से संधि को स्वीकृत नहीं करवा पाए। आठ साल राष्ट्रपति रहने वाले जॉर्ज बुश ने दो स्पष्ट आपत्तियां दर्ज करते हुए सहमति से इंकार कर दिया। पहली, चीन और भारत जैसे विकासशील देशों को छूट नहीं दी जानी चाहिए। दूसरी, इसे मानने से अमेरिका की अर्थव्यवस्था की गति धीमी होगी। 2008 में अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, जापान, भारत, चीन और दक्षिण कोरिया ने मिल कर 'एशिया पेसीफिक पार्टनरशिप ऑन क्लीन डबलेपमेंट एंड क्लाइमेट' नाम से मंच बनाया है। इसमें सदस्य देशों के लिए कोई वैधानिक बाध्यता नहीं है, जैसा कि क्योटो संधि में है। इसे अमेरिका की तरफ से क्योटो संधि का जवाब भी बताया जाता है। ये सात देश मिल कर दुनिया की कार्बनडाय ॲक्साइड का आधा छोड़ते हैं।

अब संधि की अवधि के तीन साल बचे हैं। वैज्ञानिक और विशेषज्ञ बताते हैं 1992 से अब तक धरती का तापमान और ज्यादा बढ़ा है। आगामी दिसंबर में डेनमार्क की राजधानी कोपेनहेगन में अगला जलवायु परिवर्तन सम्मेलन होने जा रहा है। पिछले कुछ महीनों से सम्मेलन के अर्जेंडे और संभावनाओं को लेकर विभिन्न देशों और जानकारों में काफी तेजी से विचार-विमर्श हो रहा है। आर्थिक मंदी के साए में होने वाले इस सम्मेलन में पूंजीवादी दुनिया की 'आशा के केंद्र' बराक ओबामा क्या रुख अपनाते हैं, देखना रोचक होगा। अमेरिका यह भी कह सकता है कि जब तक आर्थिक मंदी दूर नहीं हो जाती, तब तक विकसित औद्योगिक देशों पर कोई भी संधि वैधानिक रूप से बाध्यकारी न बनाई जाए। वैसे भी क्योटो संधि की कई तरह की आलोचनाएं सामने आ चुकी हैं।

हमने यह ब्यौरा इसलिए दिया है ताकि स्पष्ट हो सके कि संकट की भयावहता के बावजूद उससे निपटने के प्रयास 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' की चाल से चल रहे हैं। साथ ही यह भी कि विकास का मॉडल और रास्ता सबका वही है, जिसके चलते संकट खड़ा हुआ है। जाहिर है, जलवायु परिवर्तन की यह चिंता और बहस विकास के प्रचलित मॉडल के दायरे में होती है। 'क्लीन डबलेपमेंट मेकेनिज्म', 'सस्टेनेबल डबलपमेंट', 'ग्रीन टैक्नोलोजी' बदलती जलवायु के साथ 'अडेप्टेशन' की युक्तियां तलाशने जैसे जो उपाय सुझाए जाते हैं, उनका संकट की विकरालता के मद्देनजर कोई खास अर्थ नहीं बनता है। इसीलिए जलवायु परिवर्तन की समस्या पर विचार-

विमर्श के दौरान देशों के भीतर और देशों के बीच स्वार्थों का टकराव चलता है। जो विकसित हो चुके हैं वे और विकास चाहते हैं, और जो अभी विकासशील हैं, वे विकसित देशों की तरह विकसित होना चाहते हैं। अमीरों का अमीर देश अमेरिका नहीं चाहता कि उसके नागरिकों का जीवनस्तर जरा भी घटे। वह जलवायु परिवर्तन से जुड़े सम्मेलनों, प्रस्तावों, संधियों को अपने अनुकूल बनाने की अड़ पकड़ता है। जॉर्ज बुश ज्यादा बदनाम इसलिए हो गए कि उन्होंने अमेरिका के सामाज्यवादी चरित्र और लक्ष्य को कुछ ज्यादा ही खुले रूप में प्रदर्शित कर दिया। उसने यह भी खुला कर दिया कि अमेरिकी राजनय पर सैन्यवाद का मजबूत चक्का चढ़ा हुआ है।

क्योटो संधि को अमेरिकी अर्थव्यवस्था धीमी होने के तर्क पर नकारना बुश की सामाज्यवादी दूरदृष्टि को बताता है। अगर अमेरिकी नागरिकों की आर्थिक हैसियत में कमी आएगी तो सामाज्यवाद समर्थक अमेरिकी, जो रिपब्लिक और डेमोक्रेटिक दोनों पार्टियों में हैं, सामाज्यवाद विरोधी अमेरिकी नागरिकों और उसके बाद दुनिया के साथ खड़ा हो सकते हैं। लिहाजा, उनके जीवन की समृद्धि व सुविधाओं को दीर्घावधि नीतियों और योजनाओं के जरिए निरंतर बनाए रखना है। विकसित और अगड़े विकासशील देश भी अमेरिकी रुख के मट्टदेनजर अपने दांव चलते हैं। चीन के प्रधानमंत्री जिबाओ का कहना है कि अमीर देश अपनी अटिकाऊ जीवन-शैली (अनसस्टेनेबल लाइफ स्टाइल) का त्याग करें। तकनीकी हस्तांतरण और जलवायु परिवर्तन के साथ तालमेल (एडेप्टेशन) बनाने में सहायता के लिए गरीब देशों को अपने जीडीपी का एक प्रतिशत अनुदान दें। उनसे पूछा जा सकता है कि गरीब देशों के अभिजनों की जीवन-शैली क्या टिकाऊ (सस्टेनेबल) होती है? चीन ने जिस तरह से अपनी ऊर्जा परियोजनाओं से ग्रीन हाउस गैसों, विशेषकर कार्बनडाय ऑक्साइड, के उत्सर्जन में अमेरिका को पीछे छोड़ दिया है, क्या वह टिकाऊ विकास और जीवन-शैली के लिए है? और देशों की भी कुछ ऐसी ही कहानियां हैं। आतंकवाद की तरह जलवायु परिवर्तन भी आज एक राजनय बन चुका है।

विकास का यह रास्ता धरती के विनाश से होकर गुजरता है। विकासवादियों को पहले भरोसा था कि धरती के संसाधन खत्म होने के बाद समुद्र और आकाश का दोहन करने को पड़ा है। लेकिन कुदरत का यह नियम आड़े आ जाता है कि पैर धरती पर ही टिक सकता है, चांद और मंगल ग्रह पर नहीं। और धरती संकट में है। इसलिए चौतरफा चिंता और बहस है। लेकिन धरती को बचाने की नहीं, विकास को बचाने की - कैसे, किस तकनीकी से धरती को इस विकास की धारिणी बनाए रखा जा सके।

पिछले हजारों सालों में पृथ्वी पर मानव और अन्य जीवधारियों ने पहले भी जलवायु परिवर्तन का सामना किया है और अपने को उसके अनुकूल ढाला है। आज भी जलवायु परिवर्तन के साथ 'अडेप्टेशन' की चर्चा होती है। लेकिन उसके साथ यह सच्चाई भी स्वीकार करनी पड़ती है कि इस बार का जलवायु परिवर्तन, जिसने समस्त पारिस्थितिक व्यवस्था को संकट के मुहाने पर ला खड़ा किया है, मानव निर्मित है। इस संकट से पार पाने में हो सकता है वह अपने एक हिस्से को बचा ले जाए। लेकिन बहुत बड़ी मानव आबादी और अन्य जीवधारियों की अनेक प्रजातियों का बचना नामुमकिन है। यह तर्क आने लगा है कि दुनिया की, यानी तीसरी दुनिया की, बढ़ती आबादी जलवायु परिवर्तन का कारण है। इस पर हम कभी फिर विस्तार से बात करेंगे। फिलहाल इतना ही कहना है कि यह तर्क आगे करने वालों की नीयत होती है कि धरती पर गरीब न रहें तो उसका संकट समाप्त हो जाएगा। हमारा कहना है अमीरों को हटा दीजिए, धरती का संकट हट जाएगा। गांधी ने कहा ही है कि धरती के पास सबके लिए पर्याप्त है, लेकिन एक भी व्यक्ति के लालच के लिए उसकी संपदा कम पड़ जाती है।

कुछ लोग कहते हैं कुछ लोगों ने फिजूल में प्रलय का हल्ला मचाया हुआ है। कहीं कोई प्रलय होने नहीं जा रही है। सही बात है। भविष्य का कुछ पता नहीं होता है। हो सकता है देर-सबेर जलवायु परिवर्तन से पैदा संकट से निपट लिया जाए। लेकिन यह भी हो सकता है कि विकास की गति को बनाए रखने के लिए भविष्य में और तेजी से मानव आबादियों और अन्य जीवधारियों की प्रजातियों का सफाया किया जाए। भविष्य की बात जाने दें, पूँजीवादी सामाज्यवाद के अभी तक के दौर में जिन कई करोड़ मनुष्यों और जीव-जंतुओं का संहार हो चुका है, उनके लिए तो प्रलय हो चुकी है। दुनिया की विशाल वंचित आबादी के लिए भी निरंतर प्रलय की स्थिति बनी हुई है। लोक में एक कहावत चलती है, 'आप मरे जग परलो'। इसे हम थोड़ा बदल कर कहना चाहेंगे, 'आप तरे जग परलो'। जो लोग अपने जीवन की डोंगी को खेकर किसी तरह पूँजीवादी-सामाज्यवादी विकास-द्वीप के इनारे-किनारे कहीं लगा लेते हैं, उनके लिए फिर भले ही जगत में प्रलय होती रहे! इस प्रलय को अगर रोकना है तो विकास की अवधारणा को ही बदलना होगा। मानव जाति के बहुलांश द्वारा अर्जित पर्यावरण संरक्षण के परंपरागत विवेक को विमर्श में जगह देनी होगी। बच्चों के पाठ्यक्रम में भी।

वालेकुम सलाम

हमें अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा को मिले नोबल शांति पुरस्कार पर ज्यादा कुछ नहीं कहना है। निर्णायक मंडल की प्रशस्ति से यह पता चलता है कि इस बार का शांति पुरस्कार एक उम्मीद को दिया गया है। इसमें कोई बुराई नहीं है। बाकी विषयों के नोबल इस आधार पर नहीं

दिए जा सकते कि किसी व्यक्ति से किसी विषय में विशिष्ट काम की उम्मीद है। वहां काम हुआ होना जरूरी है। शांति का नोबल भी अभी तक किसी को शांति कायम करने की उम्मीद में नहीं दिया गया है। जब भी दिया गया है, किए गए शांति प्रयासों की एवज में दिया गया है। भले ही उन शांति प्रयासों और उन्हें करने वालों को आलोचक युद्ध और हत्या के सौदागर मानता रहा हो। नोबल संस्था से यह उम्मीद करना सही नहीं है कि वह शांति और शांति प्रयासों का वही अर्थ लगाएगी जो पुरस्कार पाने वालों की आलोचना करने वाले लोग लगाते हैं। वह पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था की संस्था है और उसी के दायरे में उसका आकलन होगा। जिसके नाम पर यह पुरस्कार दिया जाता है, वह परमाणु शक्ति का अनुसंधानकर्ता था।

भारत में कुछ लोगों द्वारा अक्सर इस बात पर रोष प्रकट किया जाता है कि गांधी को शांति का नोबल पुरस्कार नहीं देकर समिति ने चूक की है। जबकि उनका नाम तीन बार प्रस्तावित हुआ था। तीसरी बार निर्णय के समय तक उनकी हत्या हो चुकी थी। हमारा कहना है, चूक की बात बिल्कुल गलत है। चूक उन्हें पुरस्कार देने पर होती। गांधी औद्योगिक पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था का प्रतिपक्ष थे। नोबल समिति और पुरस्कार उसके महत्वपूर्ण अंग हैं। हम यह नहीं कहते कि अब तक जितनी हस्तियों को नोबल शांति पुरस्कार मिला है, वे सभी पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था के अंग या समर्थक थे। लेकिन इतना स्पष्ट है कि उन्हें पुरस्कार देकर इस व्यवस्था ने अपना काम निकाला है। और जिनसे काम निकाला है, वे नोबल पाने के बाद अपने काम के नहीं रहे। दलाई लामा इसका जीता-जागता उदाहरण हैं।

शांति से अलग विषयों में भी संस्था ने कुछ पुरस्कार अपना काम निकालने वाले दिए हैं। यानी ऐसे लोगों को दिए हैं जो पूँजीवादी-साम्राज्यवादी सत्ता-प्रतिष्ठान के खिलाफ रहे हैं। हालांकि ज्यां पाल सार्ट्र के पुरस्कार ठुकराने के बाद से समिति सावधान रहती है। कई बार यह बात उठती है कि अमेरिकी विद्वान और साम्राज्यवाद के प्रखर आलोचक नोम चोमस्की को शांति का नोबल मिलना चाहिए। इस बार भी यह आवाज आई है कि ओबामा के बजाय चोमस्की को यह पुरस्कार मिलना चाहिए था। हमें लगता है समिति को उन्हें पुरस्कार देने में कोई दिक्कत नहीं होगी। डर शायद यही है कि कहीं वे इनकार न कर दें और इनकार के साथ साम्राज्यवाद के खिलाफ मारक बयान जारी न कर दें। गांधी को पुरस्कार न देना यह दर्शीता है कि वे साम्राज्यवादी व्यवस्था के काम नहीं आ सकते थे। दोनों बार पुरस्कार न देने के कारण स्वरूप की गई टिप्पणियों पर भी रोष का कोई कारण नहीं है। समिति हैनरी किसिंजर से लेकर बराक ओबामा तक का आकलन करने की योग्यता रखती है। गांधी के आकलन की नहीं। यह गांधी की महत्ता है। कहने की आवश्यकता नहीं, गांधी की महत्ता को भारत से ज्यादा यूरोप में समझा गया है। यह उन्हें नोबल मिलने से ज्यादा महत्वपूर्ण है, और भविष्य की आशा का संकेत भी। बल्कि

गांधी की गरिमा ओबामा जैसे फरेबियों द्वारा उनके साथ नाता जोड़ने से गिरती है। हातांकि उसका भी बुरा मानने की जरूरत नहीं है। जब उन्हें अपने ही समाज और देश के डॉ. मार्टिन लूथर किंग जूनियर, जिन्होंने साम्राज्यवाद का सतत विरोध करते हुए अपने प्राणों की बलि दी, की विरासत से अपने को जोड़ने में कोई हिचक महसूस नहीं होती तो गांधी तो दूर की चीज है!

उम्मीद वाली बात की तरफ लौटें। यह मानना भोलापन होगा कि समिति के घाघ सदस्य यह नहीं जानते हों कि दुनिया में सबसे ज्यादा परमाणु हथियार रखने वाले, दो बार परमाणु बम चलाने वाले, पूरी दुनिया के संसाधनों को लूटने के लिए सैन्य अभियानों, नरसंहारों, रक्तपातों और नेताओं की हत्याओं में लगे देश के राष्ट्रपति को अमेरिका के पिठुओं के अलावा कोई शांति का दूत मानेगा। वह भी उसे नामांकन के वक्त तक जिसने 11 दिन और पुरस्कार की घोषणा के वक्त तक 9 महीना बतौर राष्ट्रपति काम किया हो। पुरस्कार की घोषणा के बाद ओबामा ने कहा है कि यह उन्हें नहीं, अमेरिकी नेतृत्व को मिला सम्मान है। इस अमेरिकी नेतृत्व के बारे में 1990 के आस-पास एक बार नोम चोमस्की ने कहा था, “अगर न्यूरेम्बर्ग कानूनों का पालन किया जाता तो अमेरिका के सभी युद्धोत्तर राष्ट्रपतियों को फांसी होती।” 1976 में नोबल शांति पुरस्कार पाने वाले मेरेड कॉरिगन मेंगर की टिप्पणी है, “दुनिया के सर्वाधिक सैन्यीकृत देश के नेता को, जो मानव परिवार को उसकी इच्छा के विरुद्ध युद्ध में झोंकता है, यह पुरस्कार देना दुनिया में चौतरफा बहुत लोगों द्वारा उस देश को दिया गया हमले और वर्चस्व का रिवार्ड माना जाएगा।”

लेकिन समिति की उम्मीद का निश्चित अर्थ जरूर होगा। पूंजीवादी दिमाग कुछ भी - विचार हो या एक्शन - अनिश्चिय में नहीं करता। मंदी में फंसे पूंजीवाद और दुर्दात होते आतंकवाद के दोतरफा हमले में घिरे अमेरिका को यूरोप और यूरोप को अमेरिका की जरूरत है। बुश अकेले ‘क्रूसेडर’ बने हुए थे। ओबामा यूरोप को मिला कर चलना चाहते हैं। अफगानिस्तान में और फौजें भेजने की ज्यादा ऊंची आवाज अमेरिका के बजाय यूरोप से आई है। नेटो महासचिव याप ड हूप, नेटो कमांडर जनरल स्टेनले मैक्रिस्टल, ब्रिटेन के सेना प्रमुख जनरल सर डेविड रिचर्ड्स, अमेरिकी सेंट्रल कमान के प्रमुख जनरल डेविड पेट्रियास, उपराष्ट्रपति जो बाइडन और ‘शांति की उम्मीद’ बराक ओबामा और उनकी राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद - इनके पिछले कुछ अरसे के बयान और फैसले उठा कर पढ़ लीजिए। सबकी एक ही आवाज है - ‘कितना भी मंहगा पड़े, युद्ध जारी रहना चाहिए।’ आठ साल से तबाही झेल रहे एक छोटे-से पिछड़े देश को और तबाह करने की नीयत से ‘नई पाक-अफगान नीति’ का दो-टूक फैसला ले लिया गया है - सेना बढ़ाई जाए! वह तब तक बढ़ाई जाती रहेगी जब तक सेंट्रल एशिया और फारस की खाड़ी के ऊर्जा संसाधनों को पूरा न लूट लिया जाए। कुछ भले लोग कहते हैं देखिए कितना बुरा कर रहा था इराक में

सद्दाम और अफगानिस्तान में तालिबान! फिलीस्तीन वाले कितने बदमाश हैं, किसी की सुनते ही नहीं! अमेरिका हमला न करे तो क्या करे? नोम चोमस्की ने एक बार कहा था कि अगर लोगों की सुरक्षा और स्वतंत्रता के लिए हमला करने की जरूरत है तो वह सबसे पहले पूर्वी कांगो में करना चाहिए था। लेकिन वहां ऊर्जा के भंडार नहीं हैं।

हमले तेज करने और एक भी परमाणु हथियार कम नहीं करने के बावजूद बंदे को 'बदनाम' बुश का 'शरीफ' विकल्प बताया जा रहा है। 'न्यूयॉर्क टाइम्स' ने संपादकीय में लिखा है, "बिल्कुल यह नोबल पुरस्कार मिस्टर बुश के राष्ट्रपति शासन की काफी खुली आलोचना है। लेकिन राष्ट्रपति का ओहदा सम्हालने के बाद पिछले नौ महीनों में जिस तरह ओबामा ने बुश के शासन काल में फैलाई गई नफरत को कम करने के लिए कदम उठाए हैं, वह उनकी बड़ी कामयाबियों में से एक है।" जी नहीं, बल्कि अगर जॉर्ज बुश तीसरी बार चुनाव लड़ते और जीत जाते तो नोबल शांति पुरस्कार देकर उनकी भी हौसला अफजाई की जा सकती थी। आखिर हिटलर और स्टालिन के नाम भी इस पुरस्कार के लिए प्रस्तावित हुए थे। जो सच्चाई है वह यह कि ओबामा को नोबल शांति पुरस्कार बुरी तरह डरे हुए अमेरिका और यूरोप का स्वयं को दिया गया आश्वासन है - पूंजीवादी साम्राज्य ढहे नहीं और आतंकवादी और हमले करने के लिए बचें नहीं। या कम से कम उन्हें उनके घरों में ही उलझाए रखा जाए। सयाने लोग कहते हैं, आश्वासन कई बार झूठा भी काम का हो जाता है।

अंत में, आखिर ओबामा ने कुछ तो किया होगा जो 'न्यूयॉर्क टाइम्स' जैसे प्रतिष्ठित अखबार ने ऐसा लिखा है? वरना 'न्यूयॉर्क पोस्ट' और 'लास एजेंल्स टाइम्स' ने जहां समिति के इस निर्णय का मखौल उड़ाया है, 'वाल स्ट्रीट जर्नल' और 'वाशिंगटन पोस्ट' ने विरोध किया है। ओबामा ने जो किया है, वह हमने उपशीर्षक में लिखा है - काहिरा की सभा में 'वालेकुम सलाम'!